कट्टरता की जीत का फैसला!

(*यह लेख अयोध्या में 60 साल पुराने भूमि-विवाद पर सितम्बर 2010 में इलाहाबाद उच्च न्यायालय का फैसला आने पर लिखा गया था और 'युवा संवाद' और 'दलित वार्षिकी' में छपा था. सुरेंद्र मोहन जी का आग्रह था कि लेख को अंग्रेजी साप्ताहिक 'जनता' के लिए अंग्रेजी में रूपांतरित करूं. वह नहीं हो पाया. देश की सर्वोच्च अदालत इलाहाबाद उच्च न्यायालय के फैसले के बहुत आगे जाकर सीधे मंदिर निर्माण का फैसला सुना चुका है और विवादित स्थल पर मंदिर बनाया जा रहा है. मथुरा और काशी में मंदिर निर्माण की प्रक्रिया ज़ारी है.*

एक दशक बाद नए पाठकों के लिए लेख यथावत रूप में फिर से जारी किया है. ज़ाहिर है, सांप्रदायिक फासीवादी ताकतों की राजनीति के साथ समाज और धर्म में बढ़ती पैठ के मद्देनज़र. इस आशा के साथ कि संवैधानिक रूप से जागरूक नागरिक उस गफ़लत से बाहर आयेंगे कि लगातार आरएसएस और नरेंद्र मोदी को एक्सपोज करते रह कर वे आधुनिक संवैधानिक भारतीय राष्ट्र और समाज की प्रतिष्ठा का कर्तव्य निभा रहे हैं.)

प्रेम सिंह

उदारता और कट्टरता का संघर्ष

"भारतीय इतिहास की सबसे बड़ी लड़ाई हिंदू धर्म में उदारवाद और कट्टरता की लड़ाई पिछले पांच हजार सालों से भी अधिक समय से चल रही है और उसका अंत अभी भी दिखाई नहीं पड़ता। इस बात की कोई कोशिश नहीं की गई, जो होनी चाहिए थी कि इस लड़ाई को नजर में रख कर हिंदुस्तान के इतिहास को देखा जाए। लेकिन देश में जो कुछ होता है, उसका बहुत बड़ा हिस्सा इसी के कारण होता है।" ('हिंदू बनाम हिंदू', डॉक्टर राममनोहर लोहिया)

कुछ साल पहले हमारे लेखों की पुस्तक 'कट्टरता जीतेगी या उदारता' के प्रकाशन पर साथी प्रेमपाल शर्मा ने कहा था, 'दोस्त चिंता न करो, उदारता ही जीतेगी।' शर्मा जी की खासियत यह है कि वे भारत और दुनिया में कट्टरता के उत्तरोत्तर बढ़ते जाने पर चिंता करने के साथ आशा से भरे रहते हैं। उनके आशावाद से हमें प्रेरणा मिलती है। शीर्षक में विस्मयादिबोधक उसी आशावाद का चिन्ह है। उदारता और कट्टरता का संघर्ष पुराना है और, जैसे कि हालात हैं, आगे भी चलने वाला है। हिंदू धर्म के दायरे में इस संघर्ष का विवेचन डॉ. राममनोहर लोहिया के निबंध 'हिंदू बनाम हिंदू' (1950) में देखा जा सकता है। लोहिया का यह महत्वपूर्ण निबंध गांधी की हत्या की घटना का विश्लेषण करने के दबाव में लिखा गया प्रतीत होता है।

लोहिया मानते हैं कि गांधी की हत्या करके "हारती हुई कट्टरता ने उदारता से अपने युद्ध में" अपने इतिहास का "सबसे जघन्य जुआ" खेला था। "महात्मा गांधी की हत्या, हिंदू-मुस्लिम झगड़े की घटना उतनी नहीं थी जितनी हिंदू धर्म की उदार-कट्टरपंथी धाराओं के युद्ध की।" वे लिखते हैं, "गांधी जी का हत्यारा

वह कट्टरपंथी तत्व था जो हमेशा हिंदू दिमाग के अंदर बैठा रहता है, कभी दबा हुआ और कभी प्रकट, कुछ हिंदुओं में निष्क्रिय और कुछ में तेज। जब इतिहास के पन्ने गांधी जी की हत्या को कट्टरपंथी (और) उदार हिंदुत्व के युद्ध की एक घटना के रूप में रखेंगे और उन सभी पर अभियोग लगाएंगे जिन्हें वर्णों के खिलाफ और स्त्रियों के हक में, संपत्ति के खिलाफ और सहिष्णुता के हक में, गांधी जी के कामों से गुस्सा आया था, तब शायद हिंदू धर्म की निष्क्रियता और उदासीनता नष्ट हो।"

मार्क्सवादियों और आधुनिकतावादियों ने नेहरू और उनके बाद के कांग्रेसियों के मातहत लोहिया के चिंतन को मुख्य बौद्धिक विमर्श में नहीं आने दिया। इस मामले में उन्होंने पूरी कट्टरता से काम लिया। उनके चिंतन को शिक्षण और शोध में जगह मिलती तो शिक्षार्थी और शोधकर्ता उसे समझ और विकसित कर पाते। लिहाजा, गांधी की हत्या करने वाली हिंदू कट्टरता की शिनाख्त और काट का बड़ा काम आज तक नहीं हो पाया। इस दिशा में लोहिया को बाहर रख कर जो चिंतन किया गया है, वह कारगर नहीं रहा है। प्रमाण के रूप में अयोध्या का फैसला सामने है। जैसा कि हम आगे देखेंगे, कट्टरता की यह जीत विभाजन और गांधी की हत्या के बाद जबरदस्त है। बाबरी मस्जिद के ध्वंस से भी ज्यादा इसका हमारे राष्ट्रीय जीवन पर प्रभाव पड़ेगा।

फैसले पर अखबारों, चैनलों और नेट पर काफी बहस चल रही है। जैसा कि इन माध्यमों में होता है, बहस सतही और गंभीर दोनों स्तर की है। उसके विस्तार में हम नहीं जाएंगे। लोगों की नजर में न्यायपालिका की मान्यता और फैसले की संतुलित प्रकृति ने शुरू में स्वागत और खुशी का माहौल पैदा किया। सामान्यतः माना गया कि फैसला अच्छा है, न किसी की जीत है, न किसी की हार। लेकिन जल्दी ही यह स्पष्ट हो गया कि फैसला न न्यायपालिका की मान्यता के अनुकूल है, न संतुलित। वह तथ्य, जो न्यायपालिका के फैसलों का आधार होते हैं, नहीं आस्था और विश्वास पर तथा संतुलन/समन्वय नहीं बहुसंख्यावाद पर आधारित है। यह भी जल्दी ही स्पष्ट हो गया कि फैसला देने वाले तीन न्यायधीशों में से एक धर्मवीर शर्मा ने फैसले की जगह आरएसएस का पेंफलेट जैसा लिखा है और बाकी के दो न्यायधीशों सुधीर अग्रवाल और यूएस खान ने बहुसंख्यक हिंदू समाज की 'आस्था के तर्क' के सामने सिर झुकाया है।

मजेदारी देखिए, न्यायधीश शर्मा कहते हैं कि तोड़ा गया ढांचा मस्जिद नहीं थी, क्योंकि उसका निर्माण इस्लाम के सिद्धांतों को दरकिनार करके किया गया था। जाहिर है, उन्हें रात के अंधेरे में कपट-पूर्वक मस्जिद में मूर्तियां रखना, संतो-साध्वियों का चोला पहने 'रामभक्तों' द्वारा अश्लीलतम भाषा में मुसलमानों के खिलाफ खुलेआम घृणा फैलाना, उन्मादी भीड़ को आगे करके अपनी मौजूदगी में मस्जिद तोड़ना और उसकी सजा से बचने के लिए हर तरह का झूठ-फरेब करना हिंदू धर्म के सिद्धातों के मुताबिक लगता है! संघ संप्रदाय जिसे आस्था मानता है उस पराजित मानसिकता के उन्माद का शिकार न्यायधीश स्तर के लोग भी होते हैं तो इससे ज्यादा गंभीर संकट की स्थिति नहीं हो सकती।

फैसले को बारूदी सुरंग हटाने जैसा जोखिम भरा काम मानने वाले न्यायधीश यूएस खान तो भयभीत नजर आते हैं। जिस देश में जज भयभीत हों, वहां सामान्य नागरिकों का हाल समझा जा सकता है। न्यायालय की तरफ से संदेश है कि अब सबको डर कर रहने की जरूरत है। 'विधर्मियों' को ही नहीं, हिंदू धर्म के संघी संस्करण को नहीं मानने वाले सभी आस्तिक-नास्तिक भारतीयों को। कैसी विडंबना है, मठों और मंदिरों पर कट्टरता की चोट पड़ने के बावजूद मध्यकाल में धर्म का लोकतंत्र बना रहता है, लेकिन आधुनिक न्यायपालिका कट्टरता के पक्ष में फैसला देती है। यह सही है कि न्यायालय के बाहर सामाजिक-राजनीतिक समूह और संस्थाओं द्वारा लंबे समय तक किसी सुलह पर नहीं पहुंचने के बाद न्यायलय ने यह 'पंचायती' की है। लेकिन यह पंचायती वह उदार धारा के मद्देनजर और हक में भी कर सकता था। उससे दबा दी गई उदार धारा को उभरने और बढ़ने का मौका मिलता जो भारतीय राष्ट्र और समाज के लिए अनिवार्य है। अफसोस कि न्यायालय भी कट्टरतवादी बहाव में बह गया।

स्पष्ट है कि फैसले ने लालकृष्ण अडवाणी और उनके नेतृत्व में संतों-साध्वियों द्वारा फैलाए गए सांप्रदायिक उन्माद और फिर मस्जिद के ध्वंस को सही ठहरा दिया है। आरएसएस खुशी से पागल है, जो कहता था कि न्यायपालिका के फैसले को कभी स्वीकार नहीं करेगा, क्योंकि वह जानता है कि फैसला अगर वाकई न्यायपालिका का होगा तो संपत्ति के स्वामित्व को लेकर होगा, जन्म-स्थान को लेकर नहीं। संघ संप्रदाय की यह बड़ी सफलता है कि न्यायपालिका उसकी दबोच में आ गई है। वरना वह उसे ही अपने रास्ते का सबसे बड़ा रोड़ा मानता था। अब वह खुल कर और पूरे उत्साह से अन्य संस्थाओं को दबोचने का काम करेगा। न्यायलय ने हिंदू-राष्ट्र के लिए संजीवनी और पहले से ही लड़खड़ाते भारतीय राष्ट्र के लिए विखंडन का आदेश लिख दिया है।

कोई राष्ट्र भौगोलिक रूप से एक रहते हुए भी अंदरखाने टूटा हुआ हो सकता है। आज का भारत उसकी एक ज्वलंत मिसाल है। जाति और लिंग जैसे परंपरागत कटघरों एवं गरीब और अमीर भारत के विभाजन के अलावा उसमें और भी कई टूटें सिर उठाए देखी जा सकती हैं। इन टूटों को अक्सर पुरातनता और गरीबी के मत्थे मढ़ दिया जाता है। लेकिन आधुनिकता और अमीरी का अमृत छकने वाले मध्यवर्ग में भी राष्ट्रीय एकता के प्रति सरोकार दिखावे भर का है। वह खुद निम्न, मध्य और उच्च के सोपानों में विभाजित प्रतिस्पर्धी गुटों का अखाड़ा बना हुआ है। कट्टरता की ऐसी करामात है कि भारत में बुद्धिजीवी और कलाकार तक गिरोहबंदी चलाते हैं। कहने का आशय यह है कि भारतीय राष्ट्र को विखंडित करने वाली कट्टरता का फैलाव केवल संघ संप्रदाय तक सीमित नहीं है।

1950 में लोहिया लिखते हैं, "आज हिंदू धर्म में उदारता और कट्टरता की लड़ाई ने हिंदू-मुस्लिम झगड़े का ऊपरी रूप ले लिया है लेकिन हर ऐसा हिंदू जो अपने धर्म और देश के इतिहास से परिचित है, उन झगड़ों की ओर भी उतना ही ध्यान देगा जो पांच हजार साल से भी अधिक समय से चल रहे हैं और अभी तक हल नहीं हुए हैं। कोई हिंदू मुसलमान के प्रति सहिष्णु नहीं हो सकता जब तक कि वह उसके साथ ही वर्ण और संपत्ति के विरुद्ध और स्त्रियों के हक में काम न करे। उदार और कट्टर हिंदू धर्म की लड़ाई अपनी सबसे उलझी हुई स्थिति में पहुंच गई है और संभव है कि उसका अंत भी नजदीक ही हो।

कट्टरपंथी हिंदू अगर सफल हुए तो चाहे उनका उद्देश्य कुछ भी हो भारतीय राज्य के टुकड़े कर देंगे, न सिर्फ हिंदू-मुस्लिम दृष्टि से बल्कि वर्णों और प्रांतों की दृष्टि से भी। केवल उदार हिंदू ही राज्य को कायम कर सकते हैं।" वे आगाह करते हैं, "अतः पांच हजार वर्षों से अधिक की लड़ाई अब इस स्थिति में आ गई है कि एक राजनीतिक समुदाय और राज्य के रूप में हिंदुस्तान के लोगों की हस्ती इस बात पर निर्भर है कि हिंदू धर्म में उदारता की कट्टरता पर जीत हो।"

लोहिया ने इस निबंध में एक जगह यह भी कहा है कि देश में एकता लाने की भारत के लोगों और महात्मा गांधी की आखिरी कोशिश की आंशिक सफलता को पांच हजार सालों की कट्टरपंथी धाराएं मिल कर असफल बनाने का जोर लगा रही हैं। उनके विचार में "अगर इस बार कट्टरता की हार हुई, तो वह फिर नहीं उठेगी।" लेकिन भारत के शासक वर्ग ने कट्टरता को मारने के बजाय भारत के लोगों और गांधी को मारने का काम चुना, जो आज भी जारी है। उसने ऊपर से जो भी फू-फां की हो, जैसे कि समाजवाद या रोशनी बुझ गई आदि, वह कट्टरता के साथ जुट कर खड़ा हुआ। शासक वर्ग का पिछलग्गू, जो अब उसका हिस्सा ही है, आधुनिक बुद्धिजीवी - वह पूंजीवादी हो या साम्यवादी या तटस्थ? - सादगी और शांति के विचार की भ्रूण-हत्या करने के लिए आमादा रहता है। उसी तरह जिस तरह भारत का पढ़ा-लिखा खाता-पीता मध्यवर्ग बालिकाओं की भ्रूण-हत्या करता है। गांधी को मारने की इस परिघटना की विस्तृत पड़ताल हमने अपनी आने वाली पुस्तक 'हम गांधी को क्यों मारते हैं?' में करने की कोशिश की हैं।

कट्टरता-विरोध के कर्तव्य

कट्टरता की जीत के इस फैसले का विरोध जरूरी है और आशा करनी चाहिए कि उच्चतम न्यायालय इसे अस्वीकार करेगा। उसके लिए जनमत बनाया जाना चाहिए। लेकिन यह काम गंभीरतापूर्वक सोच-समझ कर करने का है। विरोध के जो ज्यादातर स्वर सुनाई पड़ रहे हैं, वे कट्टरता को हराने के बजाय अपने विमर्श या विचारधारा को जिताने की नीयत से ज्यादा परिचालित लगते हैं। कट्टरता को यह माफिक पड़ता है। ऐसे में वह उदारता की ताकत को भी अपने भीतर खींच लेती है। ऐसे माहौल में उदारता के फलने-फूलने का आकाश नहीं बचता। क्या हम कट्टरता से पूरित भारतीय सामाजिक-राजनीतिक परिदृश्य में किसी रामकृष्ण परमहंस या गांधी की उत्पत्ति की कल्पना कर सकते हैं? कट्टरता तो फिर भी उन्हें एप्रोप्रिएट करती है, लेकिन उसके मुकाबले के दावेदार कहेंगे कि परमहंस और गांधी को न केवल पैदा नहीं होना चाहिए, उनके पैदाइश से पैदा हुए प्रभावों को भी नष्ट करने का काम तेजी से होना चाहिए। भारत के सेकुलर और कट्टरपंथी दोनों खेमों का यह प्रण है। इस प्रण में दलितवादी और स्त्रीवादी शामिल हैं। मायावती का हाथी, जैसा कि उनकी सरकार ने न्यायालय को बताया, हिंदू धर्म की कट्टरतावादी धारा का मजबूत वाहक और उसे पूंजीवादी कट्टरता से जोड़ने वाला है।

यह कोई रहस्य नहीं है। हम आपको बता चुके हैं कि ये सब आधुनिक औद्योगिक सभ्यता के नवीनतम चरण नवउदरवाद अथवा नवसाम्राज्यवाद के प्रकट अथवा प्रच्छन्न भक्त हैं। ओबामा की जीत पर उसके साथ जब ये सब चिल्लाए थे - 'यस वी कैन' - तो उनकी मुराद यही थी कि हम भी अमेरिका बन सकते हैं। हम भी मानते हैं कि 'वे ही' अमेरिका बन सकते हैं। बल्कि नकली-सकली ढंग के अमेरिकन वे बने भी

हुए हैं और अपनी कूद-फांद उन्हें दिखाते भी रहते हैं। गांधी आधुनिक औद्योगिक सभ्यता, लोहिया के मुताबिक जो साम्राज्यवादी होकर ही संभव होती है, के विकल्प हैं। इस गांधी को छोड़ कर 'उदार हिंदू गांधी' की बात कुछ नवउदारवादी यदा-कदा करते हैं। लेकिन वे भी जानते हैं कि उसका कोई अर्थ नहीं होता है। धार्मिक और नवउदारवादी कट्टरताएं एक-दूसरे के कीटाणुओं पर पलती हैं।

देश में फैसले के खिलाफ जनमत बनाते वक्त यह जरूरी है कि संवैधानिक मूल्यों - धर्मनिरपेक्षता, समाजवाद और लोकतंत्र - के आधर पर फैसले का विरोध करने वालों की खुद की निष्ठा उनमें अक्षुण्ण हो। विशेषकर पिछले दो दशकों से संविधान के साथ जो खिलवाड़ किया जा रहा है, उस पर सरसरी निगाह डालने से ही पता चल जाता है कि देश का शासक वर्ग, जिसमें अकेले संघ संप्रदायी नहीं हैं, की संविधान के प्रति निष्ठा दिखावे के लिए रह गई है। यहां तक कि बुद्धिजीवियों का सरोकार अपनी स्वार्थपूर्ति का रह गया है। किसी विधेयक, अध्यादेश, संशोधन, कानून आदि द्वारा संविधान की मूल भावना को नष्ट किए जाने पर भी बुद्धिजीवी सरकारों के साथ हो जाते हैं। हम शिक्षा के क्षेत्र की बात आपको पहले बता चुके हैं कि कैसे प्रोफेसर यशपाल और प्रोफेसर कृष्णकुमार जैसे विद्वान शिक्षा के बाजारीकरण का बीड़ा उठाने वाले सैम पित्रोदा और कपिल सिब्बल के पदाति बन गए हैं। बात वहीं आ जाती है - संविधान को चुनौती देने वाली कट्टरतावादी ताकतों और संविधान के पालन के नाम पर पलने वाला शासक-वर्ग देश की मेहनतकश जनता का साझा प्रतिपक्ष बना हुआ है। ऐसे में वह सांप्रदायिक, जातीय, क्षेत्रीय, गोत्रीय आदि कट्टरताओं का शिकार होता है तो दोष पूरा उसका नहीं होता।

भारत का बुद्धिजीवी-वर्ग संक्रमण की अवधरणा को रणनीति की तरह इस्तेमाल करता है। वह कहता है कि यह चीजों के सही दिशा में बढ़ने का संक्रमण काल चल रहा है। इस रणनीति के तहत आधुनिक दुनिया के करोड़ों-करोड़ लोगों की मौत और पीड़ाओं का औचित्य प्रतिपादित किया जाता है, लेकिन अपनी कोई जिम्मेदारी स्वीकार नहीं की जाती। संक्रमण की रणनीति को हटा कर देखा जाए तो कुछ बातें स्पष्ट हैं। पूंजीवाद और उसकी गांठ में बंधा समाजवाद, वह एक पार्टी की तानाशाही वाला हो या एक से अधिक पार्टियों के लोकतंत्र वाला, कट्टरता को बढ़ाते और बलवान बनाते हैं। कट्टरता की अपनी परंपरा और पैठ तो है ही। इन हकीकतों को अनदेखा करके कट्टरता के विरोध के कर्तव्य तय नहीं किए जा सकते।

फैसले के बाद अशांति और हिंसा न फैलने की काफी तारीफ हुई है। कारण बताया गया कि भारत के लोग अब परिपक्व हो गए हैं। धर्म के नाम पर राजनैतिक रोटियां सेंकने वालों की असलियत वे पहचान चुके हैं। उन्हें सांप्रदायिक भारत नहीं चाहिए। लोगों में पैदा हुए इस 'गुण' को ज्यादातर ने नवउदारवाद की नियामत बताया है। यानी नवउदारवाद भारत के लोगों को सांप्रदायिकता से काट कर आर्थिक महाशक्ति से जोड़ता है। इसे उलट कर भी कह सकते हैं - भारत को आर्थिक महाशक्ति बनाने में जुटे लोगों के पास सांप्रदायिक ताकतों के लिए फुरसत नहीं है। शायद वे यह भी मानते होंगे कि नवउदारवाद के चलते लोगों को कुछ समय के लिए जो आर्थिक कष्ट झेलने पड़ रहे हैं, सांप्रदायिकता के राक्षस से मुक्ति पाने की वह बहुत छोटी कीमत है। बल्कि कल के लिए उनके दिमाग में यह कहने के लिए भी हो

सकता है कि सांप्रदायिक कट्टरता को परास्त करने के लिए वे नवउदारवादी कट्टरता को झेलते जाएं। वे तर्क देंगे, संप्रदायिक कट्टरता पिछड़ी और नवउदारवादी कट्टरता आगे ले जाने वाली है।

जो कहते हैं कि फैसले के बाद कोई दंगा नहीं हुआ, क्या वे कह सकते हैं कि फैसला हिंदुओं के हक में नहीं आता तब भी वैसा ही होता? जो इस फैसले के बाद मुसलमानों से फैसले के तहत हिस्से में आई जमीन को छोड़ने और देश में लाखों जगहों पर लाखों मुकदमे दायर करने की ताल ठोंक रहे हैं, फैसला सुन्नी वक्फ बोर्ड के हक में आने पर क्या करते? क्या वे गारंटी दे सकते हैं कि मुस्लिम कट्टरता घात लगा कर वार नहीं करेगी?

कुछ सुधीजनों ने फैसले के बाद शांति कायम रहने के पीछे लोकतंत्र की मजबूती का तर्क भी दिया है। उनके मुताबिक हम इसी तरह अपने लोकतंत्र को मजबूत करते जाएं तो सांप्रदायिकता से जल्दी ही मुक्ति पा लेंगे। सचमुच यह सोच आशा बंधाने वाली है। कमियों और खामियों के बावजूद लोकतंत्र आशा का सबसे बड़ा आधार है। इस बिगड़े लोकतंत्र में भी पिछड़ी और दलित राजनीति आपस में मिल जाए तो संप्रदायवादी और नवउदारवादी कट्टरताओं पर कुछ हद तक काबू पाया जा सकता है। लेकिन थोड़ा ठहर कर सोचें, क्या नवउदारवाद की सेवा में जुता लोकतंत्र सच्चे अर्थों में मजबूत कहा जाएगा? यह विस्तार से बताने की जरूरत नहीं होनी चाहिए कि देश में जो लोकतंत्र मजबूत हो रहा है, वह कांग्रेस और भाजपा के वर्तमान और भविष्य की मजबूती का लोकतंत्र है। भारत के लोकतंत्र को लेकर मनमोहन सिंह और लालकृष्ण अडवाणी की एक राय है - देश में दो - कांग्रेस ओर भाजपा - पार्टियां रहनी चाहिए, बाकी क्षेत्रीय पार्टियों को इन दोनों में मिल जाना चाहिए।

उनकी यह मान्यता निराधार नहीं है। देश की अन्य पार्टियां बारी-बारी से कांग्रेस या भाजपा के साथ जुड़ती रहती हैं। दक्षिण से लेकर उत्तर भारत तक यही स्थिति है। नितीश कुमार भाजपा का साथ नहीं छोड़ते कि कहीं रामविलास पासवान न लपक लें। समाजवादी पार्टी मस्जिद ध्वंस के उपनायक कल्याण सिंह के साथ मिल चुकी है। इधर राष्ट्रीय जनता दल के वरिष्ठ नेता रघुवंश प्रसाद सिंह ने कहा है कि राजद ने कांग्रेस का साथ छोड़ कर गलती की। माकपा पोलित ब्यूरो ने कहा ही था कि कांग्रेस से संबंध-विच्छेद करना घाटे का सौदा रहा। नवीन पटनायक, ममता बनर्जी, एम. करुणानिधि, जयललिता, चंद्रबाबू नायडू आदि नेता भाजपा-कांग्रेस से सुविधानुसार मिलते-बिछुड़ते रहते है।। मार्क्सवादी पार्टियों को भी कुछ सयाने लोग रास्ता दिखा रहे हैं कि राहुल गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस में वामपंथी धारा की प्रतिष्ठा हो चुकी है। लिहाजा, उन्हें कम से कम कांग्रेस के साथ मिलने से एतराज नहीं होना चाहिए। संदेश यह है कि सांप्रदायिकता से बचने के लिए लोकतंत्र के मौजूदा स्वरूप को बदलने की जरूरत नहीं है।

जिस तरह से एक स्थानीय विवाद को कट्टरतावादी ताकतों ने पूरे देश के स्तर पर फैलाया, समाज में सांप्रदायिकता और वैमनस्य का जहर घोला, पहले मुलायम सिंह के शासन में कारसेवकों की और पीछे कल्याण सिंह के शासन में मस्जिद-ध्वंस के बाद हजारों निर्दोष नागरिकों की दंगों में मौत हुई, केंद्र में भाजपानीत सरकार बनी और स्वाभाविक रूप से कट्टरता का कारोबार बढ़ा, मुस्लिम कट्टरता आतंकवादी बनी, कृष्णा आयोग की रपट पर कोई कार्रवाई नहीं हुई, संघ संप्रदाय के कतिपय हिंदुओं ने आतंकवादी

कृत्यों को अंजाम दिया, गुजरात हुआ, उसके बाद निर्दोष नागरिकों पर आतंकवाद का कहर टूटा, जम्मू-कश्मीर जंग का मैदान बना, 49 बार कार्यकाल बढ़ाए जाने के बाद लिब्राहन आयोग की रपट आई और संसद से लेकर सड़क तक पिटी, और अब यह फैसला आया - किस दिमाग से कहा जा रहा है कि लोग सांप्रदायिकता से हट गए हैं या हट रहे हैं? यह नवउदारवाद और उसकी सेवा में समर्पित लोकतंत्र को बचाने वालों का ही दिमाग हो सकता है।

भारत के सेकुलर खेमे में सांप्रदायिक कट्टरता का विरोध एक तदर्थ कर्तव्य जैसा माना जाता है। यह मानते हुए कि आधुनिकता के साथ धर्मनिरपेक्षता भी स्थापित हो जाएगी। इसलिए धर्म और दर्शन की उदार धारा को समझने और बचाने की कोई जरूरत नहीं है। उदारता के नाम पर सरकारी कार्यक्रमों में गंगा-जमुनी तहजीब की बात कर लेना काफी है। अंततः आधुनिकता ही सब संकटों से बचाएगी, इस विश्वास के चलते तात्कालिक और फुटकर किस्म के उपायों से काम निकाला जाता है। संकट गहराने पर किए जाने वाले कार्यक्रमों में सेकुलर दायरे के विभिन्न समूहों का थोड़ा-थोड़ा साझा कर लिया जाता है। कट्टरता का कहर जब बलि लेकर चला जाता है, सब अपनी-अपनी कंदराओं में लौट जाते हैं। राजग सरकार बनने और फिर गुजरात में मुसलमानों का राज्य-प्रायोजित नरसंहार होने पर मार्क्सवादी विद्वान कुछ दूसरे समूहों से भी बात करने लगे थे। उन दिनों एक-दो वामपंथी पत्रिकाओं ने लोहिया का 'हिंदू बनाम हिंदू' निबंध भी प्रकाशित किया। लेकिन जैसे ही कांग्रेस सत्ता में आ गई, वे अपनी दुनिया में लौट गए।

अपने राम और उनके राम

भारत के शासक वर्ग पर सब कुछ भव्य होने का खब्त सवार है। अयोध्या में जो मंदिर बनेगा, भव्य उसका विशेषण नहीं संज्ञा हो गया है। संघ संप्रदाय हमेशा भव्यमंदिर बनाने का एलान करता रहा है। न्यायपालिका का साथ मिल जाने के बाद भव्यता की उसकी कल्पना और ऊंचे जाएगी। जाहिर है, उसके भव्यमंदिर के आस-आस कोई और निर्माण नहीं रह या हो सकता। आमतौर पर कहा जाता है कि तुलसी ने राम को लोकमानस का प्रिय आराध्य बनाया। हम सभी जानते हैं तुलसी के राम की व्याप्ति केवल 'कास्ट हिंदुओं' तक सीमित नहीं रही है। लेकिन यह अकेले तुलसी की प्रतिभा का कमाल नहीं है। तुलसी के राम लोकमानस की अभिव्यक्ति ही हो सकते थे और वही हैं। यानी उनका सृजन लोकमानस और तुलसी की रचनात्मक प्रतिभा की परस्परता से हुआ है। इसीलिए 'रामचरित मानस' के राम अपने गुण-दोषों सहित धर्म की उदार धारा के राम हैं। शंबूक-वध और सीता-त्याग के प्रसंगों को नहीं रखने का निर्णय अकेले तुलसी का नहीं है। तुलसी का युग और समाज भी उसमें शामिल है। तभी अपने युग और समाज पर तुलसी ने ज्यादा प्रभाव बनाया, जो अभी तक चला आता है।

'मानस' सबसे लोकप्रिय होने के साथ सबसे विवादास्पद ग्रंथ भी रहा है। वह लोकभाषा, नाटकीयता, गेयता और दोहा-चौपाई जैसे लोकोपयुक्त छंदों के चलते सहज संप्रेषणीय रचना है। 'मानस' केवल रामकथा नहीं है। उसमें मानव-जीवन के विविध सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, दार्शनिक पक्षों की विवेचना की गई है और तुलसी ने उन पर अपना पक्ष रखा है। इन पक्षों पर आम आदमी तुलसी से सहमत-असहमत होते

हुए चर्चा करता रहा है। 'मानस' ने वृहत्तर निचले समाज में विचार-विमर्श और व्याख्याओं का लोकतंत्र बनाया। हमें उसकी लोकप्रियता और विवादास्पदता का यही मुख्य कारण लगता है। माना जाता है कि तुलसी ने राम का परमब्रह्मत्व स्थापित किया। यह सही है। लेकिन उतना ही सही यह भी है कि तुलसी ने साथ ही राम का घोर लौकिकीकरण भी कर डाला। 'मानस' के बाद लोगों ने बहुत निकट से राम को प्यार किया, क्योंकि वे त्याग और बलिदान की मूर्ति थे। 'मानस' की मार्फत उन्होंने जाना, जहां राम होते हैं, वहीं अयोध्या होती है। 'मानस' के चलते हर बस्ती और हर घर अयोध्या बन गया। लोगों ने यह भी जाना कि भेद उसी के मन में हो सकता है, जिसके हृदय में राम न हों। जब हृदय के करोड़ों मंदिर मौजूद हों तो ईंट-गारे के मंदिरों को बनाने और तोड़ने की परवाह कौन करता है?

बाबरी मस्जिद के निर्माण का समय 'मानस' की रचना का भी समय है। तुलसी ने 'मानस' सहित अपनी किसी रचना में मंदिर तोड़ कर मस्जिद बनाने की घटना का जिक्र नहीं किया है। अगर किसी पहले से टूटे अथवा तोड़े गए मंदिर पर मस्जिद बनाई गई थी, तो तुलसी को राम की रचना और आराधना में किसी प्रकार की बाधा नहीं हुई। मंदिर तोड़े जाने से भक्ति का क्षय नहीं होता - दक्षिण से बाकी भारत तक फैला भक्ति-साहित्य इसका प्रमाण है। जिस तरह मंदिर तोड़ने वाले भक्ति की नहीं, अपनी शक्ति का प्रदर्शन कर रहे थे, उसी तरह अब मस्जिद तोड़ कर मंदिर बनाने वाले पलट कर अपनी शक्ति दिखाना चाहते हैं। यह शक्ति-प्रदर्शन राम-भक्ति और राष्ट्र-भक्ति दोनों की कसौटी पर खोखला है। 500 घुड़सवार लेकर हिंदुस्तान फतह करने वाले बाबर के नाम की मस्जिद 500 साल बाद तोड़ कर भव्यमंदिर बनाने की कवायद पर गर्व करने वाले शायद जानते नहीं कितने दयनीय हैं! या उन्हें कोई लिहाज नहीं है। हैरानी होती है कि भारत के संत-महात्मा कैसे हो गए हैं, जो अशोक सिंघल, प्रवीण तोगड़िया जैसे बक्कुओं के आगे-पीछे घूमते हैं। आस्था का पाठ तो वे उनसे क्या पढ़ेंगे; पैसा क्या इतनी बड़ी चीज है?

चोरी से रखी गई मूर्तियों को 'रामलला' और जन्म-स्थान मान कर वहां राम का मंदिर बनाने का आदेश देने वाले न्यायधीश नहीं समझ पाए कि वह मंदिर किस कदर कट्टरता का प्रतिष्ठान होगा और आगे पीढ़ियों में कट्टरता पैदा करेगा? निस्संदेह भव्यमंदिर लोगों के आकर्षण का केंद्र रहेगा। बच्चों, युवाओं और बड़ी उम्र के लोगों के रेले के रेले उसे देखने आएंगे। सबको कहानी सुनाई जाएगी - 'आजादी के बाद के सबसे बड़े राम-मंदिर जनांदोलन' की, अडवाणी की रथयात्रा की, बाबर और उसकी औलादों की, और उन्हें मारने के लिए सन्नद्ध 'श्री राम' की! रामकथाओं और रामलीलाओं के अर्थ कट्टरता की दिशा में बदलेंगे। सब कुछ नवउदारवाद के 'महाख्यान' में समाहित हो जाएगा।

अक्तूबर 2010